E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi, Assistant Professor, Department of Sanskrit, Dr. Shyama Prasad Mukherjee University, Ranchi

गीता के दूसरे अध्याय का सारांश

डा० धनञ्जय वासुदेव द्विवेदी

सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,

डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी विश्वविद्यालय, राँची

गीता का द्वितीय अध्याय जिसे "सांख्ययोगाध्याय" कहा गया है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अध्याय है, इसे हम समस्त गीता का सार कह सकते हैं। इसमें प्रारम्भ के १ से १० श्लोक तक अर्जुन की कायरता के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है। उसके बाद ११ वें श्लोक से वास्तविक गीता का उपदेश शुरू होता है। ३० वें श्लोक तक सांख्य और योग दृष्टि से आत्मा की नित्यता, देह और इन्द्रियों की अनित्यता, सत्-असत् का निर्णय, आत्मा की व्यापकता, आत्मतत्त्व के ज्ञाता, वक्ता एवं श्रोता की दुर्लभता का निरूपण करते हुए अर्जुन को समझाया है कि तुम्हारा मोह करना व्यर्थ है। श्लोक ३१ से ३८ तक क्षात्रधर्म के अनुसार भी युद्ध की अवश्यकर्तव्यता, न करने पर पाप और अकीर्ति का भय, सुख-दुःखादि को समान समझकर युद्ध करने पर पान लगने का कथन है, जिसमें कर्तव्य दृष्टि से उसे प्रेरित किया गया है।

श्लोक ३९ से ५३ तक निष्काम कर्मयोग को समझाया है जिसमें निष्काम कर्मयोग का प्रभाव, निश्चयात्मिका और अनिश्चयात्मिका बुद्धियाँ, सकाम पुरुषों के स्वभाव एवं उनके अन्तःकरण की अनिश्चयात्मकता, कूप का दृष्टान्त, फलासक्ति त्याग कर कर्म करने की प्रेरणा और कर्मत्याग का निषेध, सकाम कर्म की निन्दा, निष्काम कर्म की प्रशंसा, निष्काम कर्मयोगी के पुण्य पापों की निवृत्ति, कर्मफल त्याग से परमपद प्राप्ति, मोह का नाश होने से विरक्ति और वृद्धि की स्थिरता से योग की प्राप्ति का वर्णन किया है।

भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि कर्मयोगी का धर्म है कि वह परिस्थिति से कदापि पलायन न करे और डटकर उसका सामना करे। वे अर्जुन से कर्म की विधि का विवेचन करते हुए कहते हैं कि फल की इच्छा को छोड़कर अनासक्त भाव से कर्तव्य कर्म करने वाला मनुष्य सदैव अपना सन्तुलन बनाए रख

सकता है। निष्काम कर्म करने का अभ्यास करने वाले व्यक्ति का मन कर्म करते समय चंचल एवं विचलित नहीं होता तथा परिणाम के समय सम, स्थिर और शान्त रहता है। निष्काम कर्म का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य कर्म के फलल पर विचार ही न करे। मनुष्य को कर्म के फल पर तो विचार करना चाहिए किन्तु कर्म करते हुए उसकी कामना और चिन्ता नहीं करनी चाहिए। कर्मयोगी विवेक, साहस, धैर्य और दृढता से युक्त होकर स्वधर्म का पालन करता है। वह फल के सम्बन्ध में चिन्ता नहीं करता, क्योंकि फल सदैव ईश्वराधीन होता है। कर्मयोगी प्रभु के विश्वास एवं भक्ति में दृढ रहता है तथा कभी निराश नहीं होता।

५४ वें श्लोक में अर्जुन ने स्थितप्रज्ञ के सम्बन्ध में प्रश्न किया है श्लोक ५५ से ७२ तक के १८ श्लोकों में जैसे सम्पूर्ण १८ अध्यायों का सार एकत्र कर 'स्थितप्रज्ञ' नामक एक ऐसे व्यक्ति का चित्रण किया है जो इन दोनों (सांख्य योग) दृष्टियों से अपने को सर्वोच्च पद पर आसीन कर चुका है।

वह स्थितप्रज्ञ सम्पूर्ण कामनाएँ त्याग कर अपने में तृप्त रहता है, दुःखों से उद्विग्न नहीं होता सुखों की स्पृहा नहीं करता, राग-द्वेष-भय आदि से रहित होता है, शुभ या अशुभ में समान भाव रखता है, कछुए की तरह इन्द्रियों को विषयों से समेट लेता हैं, यद्यपि इन्द्रियों का दमन करके भी विषयों से निवृत्ति होती हैं पर उससे वासना नहीं जाती, अतः स्थितप्रज्ञ पूर्णरूप से इन्द्रियों को वश में रखता है। विषयों का चिन्तन करने से उनमें आसक्ति होती है, आसक्ति से कामनाएँ जागृत होती हैं, उनकी पूर्ति न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से अविवेक, अविवेक से स्मृतिभ्रम और स्मृतिभ्रम से बुद्धिनाश तथा बुद्धिनाश मनुष्य का ही सर्वनाश हो जाता है, इसलिये स्थितप्रज्ञ व्यक्ति राग-द्वेष रहित होकर अपनी वशीकृत इन्द्रियों द्वारा विषयों का उपभोग करता हुआ प्रसन्न रहता है। इस प्रसन्नता से उसके सब दुःख नष्ट हो जाते हैं और उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

निष्काम कर्मयोग की साधना से रहित व्यक्ति की न तो बुद्धि स्थिर रहती है न भावना, अतः भावनाहीन व्यक्ति सदा अशान्त रहता है और अशान्त को कभी सुख नहीं मिल सकता। इन्द्रियों के पीछे भागने वाले की वृद्धि वायु द्वारा नाव की तरह अपनी ओर आकृष्ट कर ली जाती है। अतः जो इन्द्रियों को भली प्रकार वश में किये रहता है उसकी बुद्धि स्थिर रहती है क्योंकि जैसे चारों ओर से

नदियों का जल वेग से प्रविष्ट होने पर भी समुद्र कभी न तो क्षुब्ध होता है और न अपनी मर्यादा को लाँघता है उसी प्रकार सब ओर से आते हुए भी इन्द्रियों के विषय उस स्थितप्रज्ञ को विचलित नहीं कर पाते क्योंकि कामनाओं का वशीभूत कभी शान्ति नहीं पाता और आत्मकामी सदा शान्त रहता है। अतः सम्पूर्ण कामनाओं, अहन्ता, ममता का त्याग कर निःस्पृह होकर स्थितप्रज्ञ व्यक्ति सदा शान्ति और सुख पाता है ।

यही ब्रह्म को प्राप्त (स्थितप्रज्ञ) की स्थिति है इसे प्राप्त करने वाला कभी मोहित नहीं होता और इस निष्ठा में स्थित रहकर अन्त में ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है।

संक्षेप में यही द्वितीय अध्याय का सार है ।